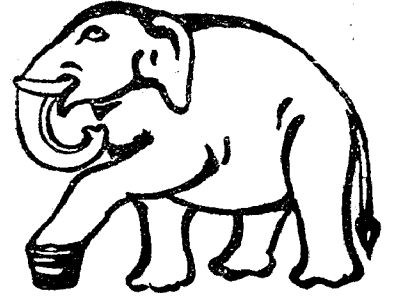


श्रीसुरेश मुनि, शास्त्री, साहित्यरत्न

अनेकान्तवाद



जैन तत्त्व-ज्ञान का मूलाधार:—मानव-जीवन का सर्वतोमुखी उन्नयन एवं विकास करने के लिए श्रमण भगवान् महावीर की अहिंसा त्रिवेणी के रूप में प्रवाहित हुई थी. पहली जीव-दयारूपी अहिंसा-जिसके द्वारा स्व-पर के क्लेश तथा मन-स्ताप को शान्त करने के लिए, जीवन के कण-कण में दया, करुणा, मैत्री, उदारता तथा आत्मोपमता का निर्मल भरना बहने लगता है. दूसरी, अनेकान्त रूपी बौद्धिक अहिंसा—जिसके द्वारा विचारों का वैषम्य, मालिन्य एवं कालुष्य धुलकर पारस्परिक विचारसंघर्ष तथा शुष्कवाद-विवाद का नामशेष हो जाता है और अन्तर्मन में पारस्परिक सौहार्द तथा शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व का प्रकाश चमकने लगता है. तीसरी, तपस्वरूपी आत्मिक अहिंसा—जिसके द्वारा पूर्व-सञ्चित कर्म-मल का शोधन-परिशोधन करके आत्मा को मांजा जाता है, पूर्णतः शुद्ध, स्वच्छ, निर्मल तथा साफ किया जाता है. उपर्युक्त विचार-पृष्ठभूमि में अनेकान्तवाद जैन-संस्कृति का तत्त्व-ज्ञान-निरूपण का मूलाधार है. जैन-संस्कृति में जो भी बात कही गयी है, वह अनेकान्तात्मक विचार एवं स्याद्वाद की भाषा में तोलकर ही कही गयी है ! इसी दृष्टिबिन्दु से संस्कृति के क्षेत्र में जैन-संस्कृति का दूसरा नाम 'अनेकान्त-संस्कृति' भी है.

अनेकान्त का स्वरूप:—जैन-संस्कृति का मन्तव्य है कि प्रत्येक वस्तु के अनन्त पक्ष हैं. उन पक्षों को जैनदर्शन की भाषा में धर्म कहते हैं. इस दृष्टि से संसार की प्रत्येक वस्तु अनन्त-धर्मा है :—

“अनन्तधर्मात्मक वस्तु”—स्याद्वादमंजरी

अनेकान्त में 'अनेक' और 'अन्त' ये दो शब्द हैं. 'अनेक' का अर्थ अधिक—बहुत और 'अन्त' का अर्थ धर्म अथवा दृष्टि है. किसी भी पदार्थ को अनेक दृष्टियों से देखना, किसी भी वस्तु-तत्त्व का भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से पर्यालोचन करना 'अनेकान्त' है. एक ही पदार्थ में भिन्न-भिन्न वास्तविक धर्मों का सापेक्ष रूप से स्वीकार करने का नाम 'अनेकान्त' है.

जैन-संस्कृति में एक ही दृष्टि-बिन्दु से पदार्थ के पर्यालोचन करने की पद्धति को एकांगी, अधूरा एवं अप्रामाणिक माना गया है, और एक ही वस्तु के विषय में भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से कथन करने की विचार-शैली को पूर्ण तथा प्रामाणिक स्वीकार किया गया है. इस सापेक्ष विचारपद्धति का नाम ही वस्तुतः अनेकान्तवाद है. अपेक्षावाद, कथचिद्वाद, स्याद्वाद, अनेकान्तवाद ये सब शब्द प्रायः एक ही अर्थ के वाचक हैं.

अनन्त-धर्मात्मक वस्तु को यदि कोई एक ही धर्म में सीमित करना चाहे, किसी एक धर्म के द्वारा होने वाले ज्ञान को ही वस्तु का ज्ञान समझ बैठे, तो इससे वस्तु का यथार्थ स्वरूप बुद्धि-गत नहीं हो सकता. कोई भी कथन अथवा विचार निरपेक्ष स्थिति में सत्यात्मक नहीं हो सकता. सत्य होने के लिए उसे अपने से अन्य विचार-पक्ष की अपेक्षा रखनी ही पड़ती है. साधारण ज्ञान, वस्तु के कुछ धर्मों—पहलुओं तक ही सीमित रहता है. केवल ज्ञान की स्थिति में ज्ञान के परिपूर्ण होने पर ही वस्तु के अनन्त धर्मों का ज्ञान होना संभव है. दूसरे शब्दों में, केवलज्ञान ही वस्तु स्वरूप को समग्र रूप में साक्षात् कर सकता है. इस पूर्ण ज्ञान को ही जैन-संस्कृति में प्रमाण माना गया है ! इसके अतिरिक्त अन्य सभी प्रकार का ज्ञान अपूर्ण एवं सापेक्ष है. सापेक्ष स्थिति में ही वह सत्य हो सकता है, निरपेक्ष स्थिति में नहीं. हाथी को खम्भे जैसा बतलाने वाला अन्धा व्यक्ति अपने दृष्टि-बिन्दु से सच्चा है, परन्तु हाथी को रस्से-जैसा कहने वाले दूसरे व्यक्ति की अपेक्षा से सच्चा नहीं हो सकता. हाथी का समग्र ज्ञान करने के लिए, समूचे हाथी का ज्ञान कराने वाली सभी दृष्टियों की अपेक्षा रहती है. इसी अपेक्षादृष्टि के कारण 'अनेकान्तवाद' का नाम अपेक्षावाद और स्याद्वाद



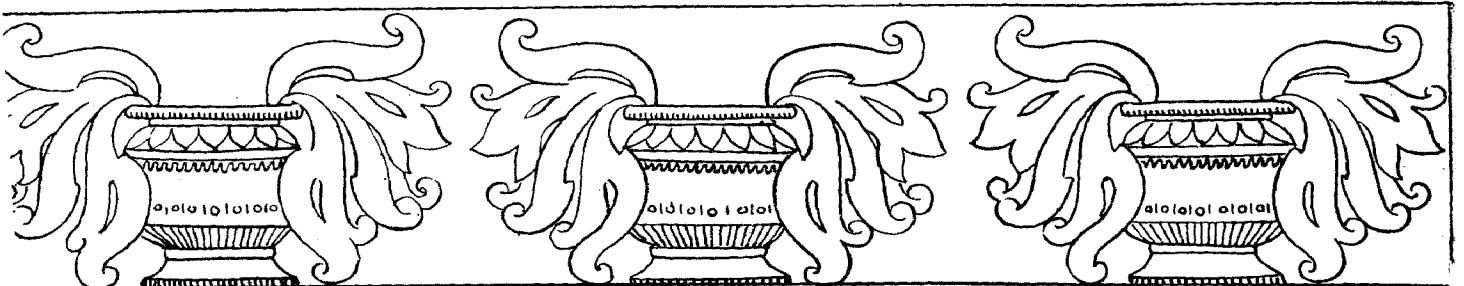
भी है। स्याद्वाद में स्यात् का अर्थ है—किसी अपेक्षा से, किसी दृष्टि से और 'वाद' का अर्थ है—कथन करना। किसी अपेक्षा-विशेष से वस्तु-तत्त्व का निर्वचन करना ही 'स्याद्वाद' है।

ही और भी का अन्तरः—अनेकान्तवाद की यह सर्वोपरि विशेषता है कि वह किसी वस्तु के एक पक्ष को पकड़कर यह नहीं कहता कि, "यह वस्तु एकान्ततः ऐसी ही है।" वह तो 'ही' के स्थान पर 'भी' का प्रयोग करता है। जिसका अर्थ है। इस अपेक्षा के वस्तु का स्वरूप ऐसा भी है। 'ही' एकान्त है, तो 'भी' वैषम्य एवं संघर्ष के बीज का मूलतः उन्मूलन करके समता तथा सौहार्द के मधुर वातावरण का सृजन करती है। 'ही' में वस्तु-स्वरूप के दूसरे सत्पक्षों का इनकार है, तो 'भी' में इतर सब सत्पक्षों का स्वीकार है। 'ही' से सत्य का द्वार बन्द हो जाता है, तो 'भी' में सत्य का प्रकाश आने के लिए समस्त द्वार अनावृत रहते हैं।

जितने भी एकान्तवादी दर्शन हैं, वे सब वस्तु-स्वरूप के सम्बन्ध में एक पक्ष को सर्वथा प्रधानता दे कर ही किसी तथ्य का प्रतिपादन करते हैं। वस्तु-स्वरूप के सम्बन्ध में, उदारमना होकर विविध दृष्टि-कोणों से विचार करने की कला उनके पास प्रायः नहीं होती। यही कारण है कि उनका दृष्टिकोण अथवा कथन 'जन-हिताय' न होकर 'जन-विनोदाय' हो जाता है। इस के विपरीत, जैन-दर्शन के तत्त्व-पारखी आचार्यों ने खुले मन-मस्तिष्क से वस्तु-स्वरूप पर अनेक दृष्टि-बिन्दुओं से विचार करके चौमुखी सत्य को आत्मसात् करने का दूरगामी यत्न किया है। अतः उनका दृष्टि-कोण सत्य का दृष्टिकोण है, शान्ति का दृष्टि-कोण है, जन-हित का दृष्टि-कोण है, सह-अस्तित्व का दृष्टि-कोण है। उदाहरण के लिए, आत्म-तत्त्व को ही ले लीजिए। सांख्य-दर्शन आत्मा को कूटस्थ (एकान्त, एकरस) नित्य ही मानता है। उसका कहना है—'आत्मा सर्वथा नित्य ही है'। बौद्ध-दर्शन का कथन है—'आत्मा अनित्य (क्षणिक) ही है।' आपस में दोनों का विरोध है। दोनों का उत्तर-दक्षिण का रास्ता है। पर, जैन-दर्शन कभी एक करवट नहीं पड़ता। उसका विचार है :—यदि आत्मा एकान्त नित्य ही है, तो उसमें क्रोध, अहंकार, माया तथा लोभ के रूप में रूपान्तर होता हुआ कैसे दीख पड़ता है? नारक, देवता, पशु और मनुष्य के रूप में परिवर्तन क्यों होता है आत्मा का? कूटस्थ-नित्य में तो किसी भी प्रकार पर्याय-परिवर्तन अथवा हेर-फेर नहीं होना चाहिए। पर परिवर्तन होता है—यह दिन के उजले की तरह स्पष्ट है। अतः "आत्मा नित्य ही है"—यह कथन भ्रान्त है। और, यदि आत्मा सर्वथा अनित्य ही है तो यह वस्तु वही है जो मैंने पहले देखी थी—'ऐसा एकत्व-अनुसन्धानात्मक प्रत्यभिज्ञान नहीं होना चाहिए। परन्तु, प्रत्य-भिज्ञान तो अबाध रूप से होता है, अतः आत्मा सर्वथा अनित्य (क्षणिक) ही है—यह मान्यता भी त्रुटिपूर्ण है। जीवन में एक करवट पड़कर 'ही' के रूप में हम वस्तु-स्वरूप का तथ्य-निर्णय नहीं कर सकते। हमें तो 'भी' के द्वारा विविध पहलुओं से सत्य के प्रकाश का स्वागत करना चाहिए। और इस सत्यात्मक दृष्टि से आत्मा नित्य 'भी' है। द्रव्य की दृष्टि से आत्मा नित्य है और पर्याय की दृष्टि से आत्मा अनित्य है।

कहने का तात्पर्य यह है कि, 'ही' के एकान्त प्रयोग से सत्य का तिरस्कार एवं बहिष्कार होता है, आपस में वैर-विरोध, कलह-क्लेश, तथा वादविवाद बढ़ते हैं, और 'भी' से ये सब द्वन्द्व एकदम शान्त हो जाते हैं। 'ही' से संघर्ष एवं विवाद कैसे उत्पन्न हो जाते हैं, इस विषय में एक बड़ा सुन्दर कथानक है। दो आदमी नाच देखने गए। एक अन्धा, दूसरा बहुरा। रातभर तमाशा देखकर, सुबह वे दोनों अपने घर वापस लौट रहे थे। रास्ते में एक आदमी पूछ बैठा—क्यों भई, नाच कैसा था ? अन्धे ने कहा—आज केवल गाना ही हुआ है, नाच तो कल होगा। बहुरा बोला—'अरे. आज तो नाच ही हुआ है, गाना तो कल होगा. दोनों लगे अपनी-अपनी तानने. मैं-तू के साथ खींचतान और कहा-सुनी हो गयी और मार-पीट तक की नौबत आ गयी.

बस, अनेकान्तवाद यही कहता है कि, एक ही दृष्टि-कोण अपना कर अन्धे, बहुरे मत बनो. दूसरे की भी सुनो—दूसरों के दृष्टि-बिन्दु को भी देखो-परखो. तमाशे में हुई थी दोनों चीजें—नाच भी और गाना भी. पर, अन्धा नाच न देख सका और बहुरा गाना न सुन सका. आज गाना 'ही' हुआ है अथवा नाच 'ही' हुआ है—इस 'ही' के झमेले में पड़कर दोनों उलझ गए—दोनों में लड़ाई ठन गई. यदि वे एक-दूसरे को देख लेते, समझ लेते और 'ही' के चक्कर में पड़कर



अपनी-अपनी न तानते, तो कोई बात ही न होती, संघर्ष की नौबत ही न आ पाती. अनेकान्तवाद परस्पर में संघर्ष उत्पन्न कराने वाली 'ही' का उन्मूलन करके उसके स्थान पर 'भी' का प्रयोग करने की बलवती प्रेरणा प्रदान करता है. अनेकान्त कानेपन को मिटाता है :—जैन-दर्शन की अनेकान्तदृष्टि मानव-मन को यही प्रकाश देती है कि मनुष्य को दो आँखें मिली हैं. अतः एक आँख से वह अपना, तो दूसरी से विरोधियों—दूसरों का सत्य देखे. जितनी भी वचन-पद्धतियाँ अथवा कथन के प्रकार हैं, उन सब का लक्ष्य सत्य के दर्शन कराना है. जैसे द्वितीया के चन्द्रमा का दर्शन करने वाले व्यक्तियों में से कोई एक तो ऐसा बतलाता है कि—“चन्द्रमा उस वृक्ष की टहनी से ठीक एक बित्ता ऊपर है.” दूसरा व्यक्ति कहता है—“चन्द्रमा इस मकान के कोने से सटा हुआ है.” तीसरा बोलता है—“चन्द्रमा उस उड़ते पक्षी के दोनों पंखों के बीच में से दीख रहा है.” चौथा व्यक्ति संकेत करके कहता है—“चन्द्रमा ठीक मेरी अंगुली के सामने नजर आ रहा है.” इन सभी व्यक्तियों का लक्ष्य चन्द्र-दर्शन कराने का है. और वे अपनी साफ नीयत से ही, अपनी-अपनी प्रक्रिया बतला रहे हैं. पर एक-दूसरे के कथन में परस्पर आकाश-पाताल का अन्तर है.

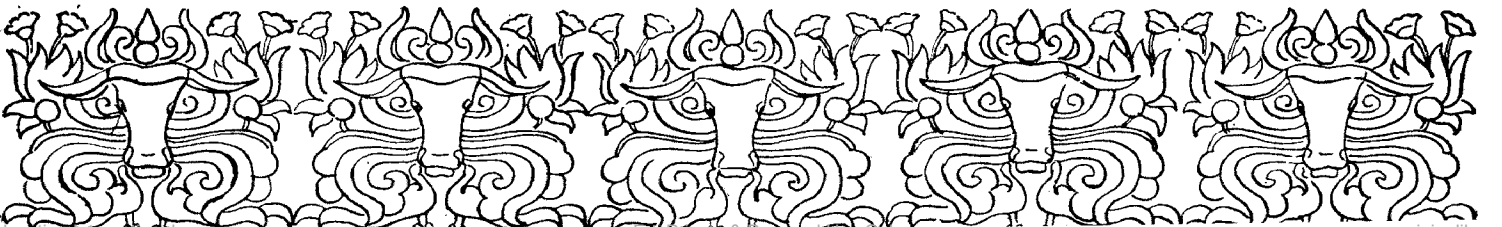
ठीक इसी प्रकार सत्य-गवेषी दार्शनिक विचारकों का एक ही उद्देश्य है—साधकों को सत्य का साक्षात्कार कराना. सब अपने-अपने दृष्टि-बिन्दु से सत्य की व्याख्या कर रहे हैं. परन्तु, उनके कथन में भेद है. 'अनेकान्त' की सतेज आँख से ही उन तथ्यांशों के प्रकाश को देखा-समझा जा सकता है.

वस्तुतः अनेकान्तवाद सत्य का सजीव भाष्य है. यह सत्य की खोज करने और पूर्ण सत्य की मंजिल पर पहुँचने के लिए प्रकाशमान महा मार्ग है. दूसरे शब्दों में, जैन-दर्शन का अनेकान्त-विचार, सब दिशाओं से खुला हुआ वह दिव्य मानस-नेत्र है, जो अपने से ऊपर उठकर दूर-दूर तक के तथ्यों को देख लेता है. अनेकान्त में एकांगिता तथा संकीर्णता को पैर टेकने के लिए ज़रा भी स्थान नहीं है. यहाँ तो मन का तटस्थ-भाव एवं हृदय की उदारता ही सर्वोपरि मान्य है. यहाँ स्व-दृष्टि नगण्य है, हेय है और सत्य-दृष्टि प्रधान है, उपादेय है. जो भी सच्चाई है, वह मेरी है, चाहे वह किसी भी जाति, व्यक्ति अथवा शास्त्र में क्यों न हो—यह ज्योतिष्मती दिशा है, अनेकान्त के महान् सिद्धान्त की.

अनेकान्तवाद का आदर्श है कि, सत्य अनन्त है. हम अपने इधर-उधर चारों ओर से जो कुछ भी देख-जान पाते हैं, वह सत्य का पूर्ण रूप नहीं, प्रत्युत अनन्त सत्य का स्फुलिंग है, अंश-मात्र है. अतः जैन-धर्म की अनेकान्त-धारा, मनुष्य को सत्य-दर्शन के लिए आँखें खोलकर सब ओर देखने की दूरगामी प्रेरणा प्रदान करती है. उसका कहना है कि, सारे संसार को तुम अपने ही विचार की आँखों से मत देखो-परखो. दूसरे को हमेशा उसकी आँख से देखिए, उसके दृष्टि-कोण से परखिए. सत्य वही और उतना ही नहीं है जो-जितना आप देख पाए हैं. फिर भी यह तो सम्भव है कि हाथी के स्वरूप का वर्णन करने वाले वे छहों अन्धे व्यक्ति अपने-आप में शत-प्रतिशत सच्चे होकर भी इसलिए अधूरे हों कि एक ने हाथी को देखा था सूंड की तरफ से, दूसरे ने पूंछ की तरफ से, तीसरे ने देखा था पेट छूकर, चौथे ने देखा था कान पकड़कर, पाँचवें ने देखा था दांतों की ओर से और छठे ने पांव की तरफ से. जीवन के इस कानेपन को, एकांगी सत्य को देखने की वृत्ति को ही तो दूर करता है—अनेकान्तवाद ! काना व्यक्ति एक ओर के सत्य को ही देख सकता है. सत्य का दूसरा पहलू, वस्तुतत्त्व की दूसरी करवट उसकी आँख से लुप्त ही रहती है !

एक पुरानी लोक-कथा है. किसी मां का काना बेटा हरद्वार गया. लौटा तो मां ने पूछा—हरद्वार में तुम्हें सब से अच्छा क्या लगा रे ? कौन-सी नयी चीज देखी तूने वहाँ पर ? गांव के भोले बेटे ने तब तक कहीं बाजार देखा नहीं था ! बोला : मां, मैंने नयी बात यही देखी कि हरद्वार का बाजार घूमता है. माँ हरद्वार हो आई थी. चौक कर उसने पूछा : कैसे घूमता है रे हरद्वार का बाजार ?

बेटे ने नए सिरे से आश्चर्य में डूबकर कहा : मां, जब मैं हर की पैड़ी नहाने गया तो बाजार इधर था और नहाकर लौटा तो देखा—बाजार उधर हो गया.



दुःख पाकर भी मां हंस पड़ी और अपने भोले बेटे को छाती से लगा लिया।

बाजार तो दोनों ओर था परन्तु कानेपन के कारण वह मां का भोला बेटा एक ओर ही देख सका ! ऐसे ही वे विचारक भी काने ही हैं जो एकान्त के भ्रमेले में पड़कर, अपनी एक दृष्टि—आंख से वस्तु-स्वरूप के सत्य को देखने का यत्न करते हैं। वे वस्तु-स्वरूप के एक-एक पहलू को ही देख पाते हैं, पर वह सत्य होता है दूसरी ओर भी। अपने कानेपन के कारण दूसरी ओर का सत्य उन्हें दीख नहीं पड़ता ! एकान्त का पक्षान्ध भला प्रकाश का दर्शन कैसे कर सकता है ?

अनेकान्तवाद मनुष्य की दृष्टि के इस कानेपन को मिटाकर, वस्तु-स्वरूप को 'विविध दृष्टियों' से देखने की प्रेरणा प्रदान करता है। अपने घर के आंगन में खड़ा व्यक्ति अपने ऊपर ही प्रकाश देखता है। छत पर चढ़कर देखे तो सब जगह प्रकाश ही प्रकाश। अनेकान्त खिड़की या आंगन का धर्म नहीं, छत का धर्म है।

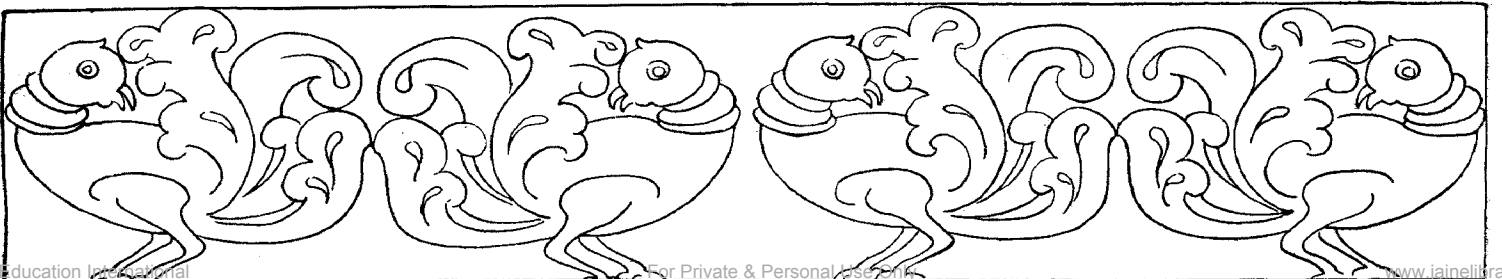
पदार्थ के विराट् स्वरूप की भांकी—जैन-दर्शन की विचारधारा के अनुसार, जगत् के सब पदार्थ उत्पत्ति, विनाश और स्थिति—इन धर्मों से युक्त हैं ! जैनत्व की भाषा में इन्हें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य कहते हैं। वस्तु में जहाँ उत्पत्ति तथा विनाश की अनुभूति होती है, वहाँ उसकी स्थिरता का भान भी स्पष्टतः होता है। सुनार के पास सोने का कंगन है। उसने उस कंगन को तोड़कर मुकुट बना लिया। इससे कंगन का विनाश हुआ और मुकुट की उत्पत्ति हुई। परन्तु, उत्पत्ति-विनाश की इस लीला में मूल-तत्त्व सोने का अस्तित्व तो बराबर बना रहा। वह ज्यों-का-त्यों अपनी स्थिति में विद्यमान रहा। इससे यह तथ्य निखर कर ऊपर आया कि उत्पत्ति और विनाश केवल आकार-विशेष का होता है, न कि मूल-वस्तु का। मूल वस्तु तो हजार-हजार परिवर्तन होने पर भी अपने स्वरूप से च्युत नहीं होती ! कंगन और मुकुट सोने का आकार-विशेष है। इस आकार-विशेष के ही उत्पत्ति एवं विनाश देखे जाते हैं। पुराने आकार का नाश हो जाता है और नए आकार की उत्पत्ति हो जाती है। अतः उत्पत्ति, विनाश और स्थिति तीनों ही पदार्थ के स्वभाव सिद्ध हुए। सोने में कंगन के आकार का विनाश, मुकुट की उत्पत्ति और सोने की स्थिति, ये तीनों धर्मतया मौजूद हैं। संसार का कोई भी पदार्थ मूलतः नष्ट नहीं होता। वह केवल अपना रूप बदलता रहता है। इस रूपान्तर का नाम ही उत्पत्ति और विनाश है और पदार्थ के मूल-स्वरूप का नाम स्थिति है।

उत्पत्ति, विनाश और स्थिति—ये तीनों गुण प्रत्येक पदार्थ के स्वाभाविक धर्म हैं, इस तथ्य को हृदयंगम कराने के लिए, जैन-दर्शन के ज्योतिर्धर विचारकों ने एक बहुत सुन्दर रूपक हमारे सामने प्रस्तुत किया है ! तीन व्यक्ति मिलकर किसी सुनार की दूकान पर गए ! उनमें से एक को सोने के घड़े की जरूरत थी, दूसरे को मुकुट की और तीसरे को मात्र सोने की ! वहाँ जाकर वे क्या देखते हैं कि सुनार सोने के घड़े को तोड़कर उसका मुकुट बना रहा है। सुनार की इस प्रवृत्ति को देखकर उन तीनों व्यक्तियों में अलग-अलग भाव-धाराएँ उत्पन्न हुई ! जिस व्यक्ति को सोने का घड़ा चाहिए था, वह घड़े को टूटता हुआ देखकर शोक-सन्तप्त हो गया ! जिसे मुकुट की आवश्यकता थी, वह हर्ष से नाच उठा ! और जिस व्यक्ति को केवल सोने की जरूरत थी, उसे न शोक हुआ और न हर्ष ही ! वह तटस्थ-भाव से देखता रहा।

उन तीनों व्यक्तियों में यह भिन्न-भिन्न भावों की तरंगें क्यों उठीं ? यदि वस्तु उत्पत्ति, विनाश तथा स्थिति से युक्त न होती तो उनके मानस में इस प्रकार की भाव-धाराएँ कभी न उमड़तीं ! घड़ा चाहने वाले व्यक्ति के मन में घड़े के टूटने से शोक हुआ, मुकुट की इच्छा रखने वाले को प्रमोद हुआ और मात्र सोना चाहने वाले को शोक या प्रमोद कुछ भी नहीं हुआ, क्योंकि सोना तो घड़े के विनाश और मुकुट की उत्पत्ति दोनों ही अवस्थाओं में विद्यमान है। अतः वह मध्यस्थ-भाव से खड़ा रहा। अलग-अलग भावनाओं के वेग का कारण वस्तु में उत्पत्ति, विनाश और स्थिति तीनों धर्मों का होना है—

घट-मौलि-सुवर्णार्थी, नाशोत्पत्तिस्थितिष्वयम्,
शोक-प्रमोद-माध्यस्थं, जनो याति सहेतुकम् ।

—समन्तभद्र, आप्तमीमांसा



वस्तु के इस त्रयात्मक रूप को और अधिक स्पष्ट करने के लिए एक दूसरा उदाहरण भी जैन-दर्शनकारों ने उपस्थित किया है। किसी व्यक्ति ने दूध को ही ग्रहण करने का नियम ले लिया है, वह दही नहीं खाता और जिसने दही ग्रहण करने का ही व्रत लिया है वह दूध ग्रहण नहीं करता, परन्तु जिसने गोरस-मात्र का त्याग कर दिया है, वह न दूध लेता है और न दही ही खाता है। इस नियम के अनुसार दूध का विनाश, दही की उत्पत्ति और गोरस की स्थिरता, ये तीनों तत्त्व अच्छी तरह प्रमाणित हो जाते हैं। दही के रूप में उत्पाद, दूध के रूप का विनाश और गोरस के रूप में ध्रौव्य, तीनों तत्त्व एक ही वस्तु में स्पष्टतः अनुभव में आते हैं—

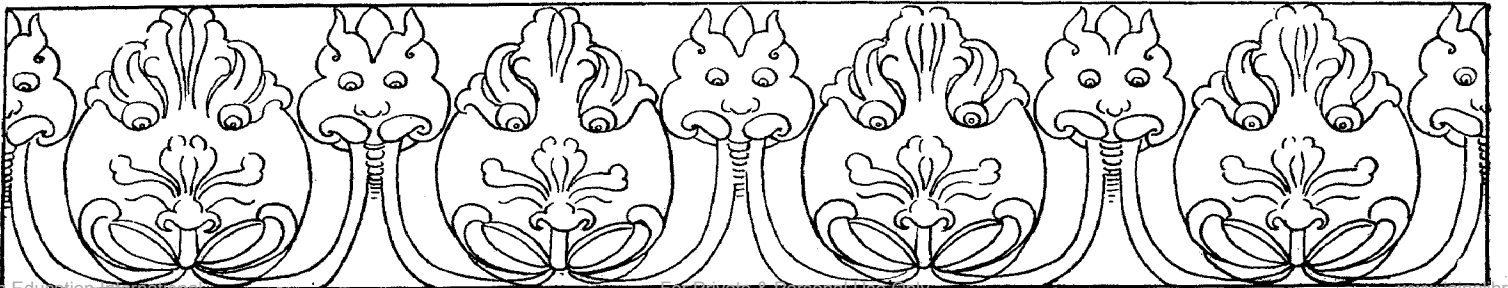
पयोधतो न दध्यत्ति, न पयोऽस्ति दधिव्रतः,

अगोरसव्रतो नोभे, तस्मात्तत्त्वं त्रयात्मकम् ।—वही पूर्वोक्त

पदार्थ के उत्पत्ति, विनाश और स्थिति, इन तीनों धर्मों से यह स्पष्ट हो जाता है कि, वस्तु का एक अंश बदलता रहता है—उत्पन्न और विनष्ट होता रहता है तथा दूसरा अंश अपने रूप में बना रहता है। वस्तु का जो अंश उत्पन्न एवं नष्ट होता रहता है, उसे जैन-दर्शन की भाषा में 'पर्याय' कहा जाता है और जो अंश स्थिर रहता है वह 'द्रव्य' कहलाता है। कंगन से मुकुट बनाने वाले उदाहरण में, कंगन तथा मुकुट तो 'पर्याय' हैं और सोना 'द्रव्य' है। द्रव्य की दृष्टि से विश्व का प्रत्येक पदार्थ नित्य है और पर्याय की अपेक्षा से अनित्य है। मिट्टी का घड़ा नित्य भी है और अनित्य भी है। घड़े का जो आकार है, वह विनाशी है, अनित्य है, परन्तु घड़े की मिट्टी अविनाशी है, नित्य है। क्योंकि, आकार-रूप में, घड़े का नाश होने पर भी, मिट्टी-रूप तो विद्यमान रहता ही है। मिट्टी के पर्याय-आकार परिवर्तित होते रहते हैं किन्तु मिट्टी के परमाणु सर्वथा नष्ट नहीं होते।

यही बात वस्तु के 'सत्' और 'असत्' धर्म के सम्बन्ध में भी है। कुछ विचारकों का मत है कि वस्तु सर्वथा 'सत्' है और कुछ का कहना है कि वस्तु सर्वथा 'असत्' है। किन्तु जैन-दर्शन के महान् आचार्यों का मन्तव्य है कि प्रत्येक पदार्थ सत् भी है और असत् भी। दूसरे शब्दों में, वस्तु है भी और नहीं भी। अपने स्वरूप की दृष्टि से वस्तु 'सत्' है और पर स्वरूप की दृष्टि से 'असत्' है। घट अपने स्वरूप की अपेक्षा से 'सत्' है, विद्यमान है, परन्तु पट के स्वरूप की अपेक्षा से घट असत् है, अविद्यमान है। ब्राह्मण 'ब्राह्मणत्व' की दृष्टि से 'सत्' है, लेकिन क्षत्रियत्व की दृष्टि से 'असत्' है। प्रत्येक पदार्थ का अस्तित्व अपनी सीमा के अन्दर है, सीमा से बाहर नहीं। यदि प्रत्येक वस्तु प्रत्येक वस्तु के रूप में सत् ही हो जाए, तो फिर विश्व-पट पर कोई व्यवस्था ही न रहे। एक ही वस्तु सर्व-रूप हो जाए।

अनेकान्तवाद 'संशयवाद नहीं' है:—अनेकान्तवाद के सम्बन्ध में अजैन जगत् में कितनी ही भ्रान्तियाँ फैली हुई हैं। किसी का विचार है कि अनेकान्तवाद संशयवाद है। परन्तु जैन-दर्शन के दृष्टिबिन्दु से यह सत्य से हजार कोस परे की बात है। संशय तो उसे कहते हैं जो किसी भी बात का निर्णय न कर सके। अंधेरे में कोई वस्तु पड़ी है। उसे देखकर अन्तर्मन में यह विचार आना कि "कि यह रस्सी है या सांप?" इस अनिर्णीत स्थिति का नाम है संशय। इसमें 'रस्सी' अथवा 'सांप' किसी का भी निश्चय नहीं हो पाता। कोई वस्तु किसी निश्चयात्मक रूप से न समझी जाए, यही तो 'संशय' का स्वरूप है। परन्तु अनेकान्तवाद में तो 'संशय' जैसी कोई स्थिति है ही नहीं। वह तो संशय का मूलोच्छेद करने वाला निश्चितवाद है। यहां जिस अपेक्षा से जो बात कही जाती है, उस अपेक्षा से वह बात वैसी ही है, यह सौ फी सदी निश्चित है। 'अनेकान्तवाद' अपेक्षा की दृष्टि से अपनी बात जोर देकर 'ही' पूर्वक कहता है। उदाहरण के तौर पर, अनेकान्तवादी द्रव्य की दृष्टि से आत्मा को नित्य ही मानता है और पर्याय की दृष्टि से 'अनित्य' ही मानता है। द्रव्य की दृष्टि से आत्मा नित्य भी है और अनित्य भी है अथवा पर्याय की अपेक्षा से आत्मा अनित्य भी है और नित्य भी है—ऐसे अनिश्चयात्मक घपले की बात अनेकान्तवादी कभी नहीं कहता-मानता। 'ही'—पूर्वक अपनी बात को कहता हुआ भी, वह 'स्यात्' पद का प्रयोग इसलिए करता है कि आत्मा द्रव्य की दृष्टि से जैसे नित्यत्व धर्म वाला है, उसी प्रकार पर्याय की दृष्टि से अनित्यत्व-धर्म वाला भी है। सत्य का यह पहलू कहीं आँखों से लुप्त न हो जाए। यदि यह सत्य-दृष्टि विचारक के मानस-नेत्र से ओझल हो जाए तो फिर वहां एकान्तवाद आकर अपना आसन जमा



लेता है और 'एकान्तवाद' से तत्त्व की, सत्य की पूर्ण भांकी कभी मिल नहीं सकती. अतः जैन-दर्शन का अनेकान्तवाद 'संशयवाद' नहीं प्रत्युत वस्तु तत्त्व का यथार्थ निर्णय करने वाला मुनिश्चितवाद है.

अनेकान्तवाद असत्समन्वयवाद नहीं:—कुछ आधुनिक शिक्षा-दीक्षा में पले हुए विचारकों का कहना है कि अनेकान्तवाद कोरा समन्वयवाद है. जैन-दर्शन को विचार-सरिणी से, उनका यह कथन एक विशुद्ध भ्रान्ति से अधिक मूल्य महत्व नहीं रखता. अनेकान्तवाद एक ही पदार्थ में अनन्त धर्मों को स्वीकार करता है, इस अपेक्षा से उसे वस्तु के समस्त धर्मों का समन्वय करने वाला कह दिया जाए तो यह दृष्टिकोण अनेकान्तदृष्टि का दूषण नहीं, भूषण है. किन्तु एकान्त-वाद की मूल भित्ति पर खड़े किए गये सब धर्म, सब धर्ममार्ग सच्चे हैं, सब धर्ममार्ग मोक्ष के साधन हैं, यह कहना सत्य का गला घोटना है. एकान्त और अनेकान्त का तो अन्धकार तथा प्रकाश की तरह शाश्वत-विरोध है. अनेकान्त-वाद असत् बातों का समन्वय कभी नहीं करता. क्या अनेकान्तवाद यह भी सिद्ध करेगा कि आदमी के सिर पर सींग होते भी हैं और नहीं भी होते ? अनेकान्त का समन्वय सत्य की शोध पर आधारित होता है, सत्य के अनुकूल होता है. असत्य के साथ उसका समझौता कभी हो नहीं सकता. अंध समन्वय जीवन में बेमेलपन उत्पन्न कर देगा.

वास्तव में सच और झूठ को शब्द-रूप में स्वीकार कर लेना अनेकान्त नहीं है. जैन-धर्म के जिन महान् विचारकों ने अनेकान्त की प्रतिष्ठा की थी, उनका यह आशय कभी नहीं था कि विधि-निषेध अथवा आचार-शास्त्र की कुछ समान बातों के आधार पर सब धर्म-मार्ग एक रूप ही हैं, समान ही हैं. ऐसा मानना तो गुड़ गोबर एक करना है. समानता को समानता और असमानता को असमानता स्वीकार करने वाला व्यक्ति ही, अनेकान्त का उपासक हो सकता है. सब धर्मों में आचार-विषयक जैसे कुछ समानताएं दृष्टिगोचर होती हैं, उसी प्रकार असमानताएं भी तो बहुत हैं. भक्ष्य-अभक्ष्य, पेय-अपेय, कृत्य-अकृत्य की सब मान्यताएं समान ही हैं—यह विचार अविवेकपूर्ण है, सर्वथा भ्रान्त है. एकान्त और अनेकान्त के जीव-अजीव तत्त्वों के सम्बन्ध में किये गये विवेचन विश्लेषण में उत्तरी ध्रुव तथा दक्षिणी ध्रुव जैसा अन्तर होते हुए भी, इनमें परस्पर कोई भेद नहीं, सब धर्मों और प्रवर्तकों में पूर्ण साम्य है, यह कह बैठना अनेकान्त-वाद नहीं, मृषावाद है.

अनेकान्तवादी का सर्व-धर्म-समन्वय एक भिन्न कोटि का होता है. वह सत्य को सत्य और असत्य को असत्य के रूप में देखता है, मानता है और असत्य का परिहार तथा सत्य का स्वीकार करने के लिए सतत उद्यत रहता है. असत्य का पक्ष न करना और सत्य के प्रति सदा जागरूक रहना ही अनेकान्तवादी की सच्ची मध्यस्थ-दृष्टि है. सत्य-असत्य में कोई विवेक न करना, यह मध्यस्थ-दृष्टि नहीं, अज्ञान-दृष्टि है, जड़-दृष्टि है. सत्य और असत्य दोनों को एक ही पलड़े में रख देना एक प्रकार से असत्य के प्रति पक्षपात और सत्य के प्रति द्वेष ही है. सत्य के प्रति अन्याय न होने पाए और असत्य को प्रश्रय न मिलने पाए, इस अपेक्षा से अनेकान्त-सिद्धान्त के मानने वाले व्यक्ति का मध्यस्थ-भाव एक अलग ही ढंग का होता है. जिसकी स्पष्ट भांकी हम निम्न श्लोक में देख सकते हैं—

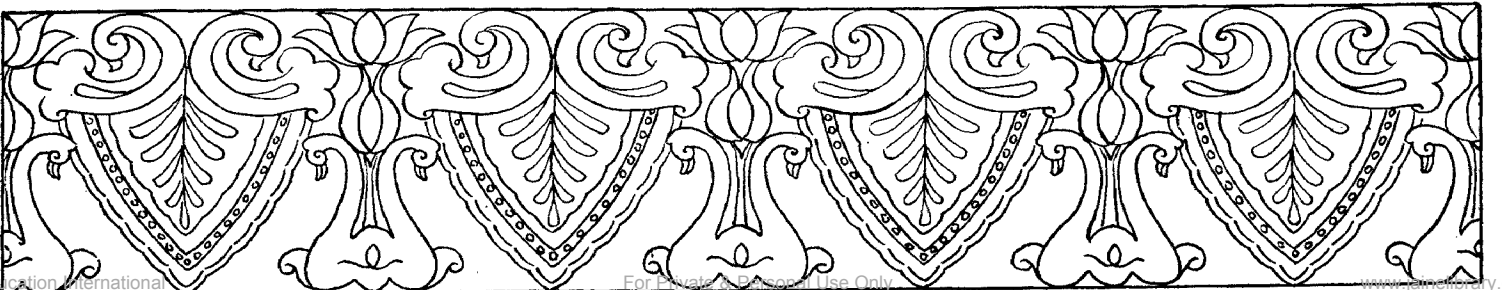
‘तत्रापि न द्वेषः कार्यो, विषयस्तु यत्नतो मृग्यः ।

तस्यापि च सद्बचनं, सर्वं यत्प्रवचनादन्यत् ॥

—षोडशक १६।१३

दूसरे शास्त्रों के प्रति द्वेष करना उचित नहीं है. परन्तु वे जो बात कहते हैं, उसकी यत्नपूर्वक शोध करनी चाहिए और उसमें जो सत्य वचन है, वह द्वादशांगी-रूप प्रवचन से अलग नहीं है.

अनेकान्तवाद का गाम्भीर्य और मध्यस्थ-भाव दोनों उपर्युक्त श्लोक में मूर्त हो उठे हैं. अनेकान्तवादी के लिए कोई भी वचन स्वयं न प्रमाणरूप है और न अप्रमाणरूप ही. विषय के शोधन-परिशोधन से ही, उसके लिए कोई वचन प्रमाण अथवा अप्रमाण बनता है, चाहे वह स्व-शास्त्र का हो या पर-शास्त्र का. जिसका विषय प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाण से अविरोध हो, वह वाक्य प्रमाण है और जिसका विषय प्रत्यक्ष आदि प्रमाण से वाधित हो, वह वचन अप्रमाण है. वस्तु अनेक धर्मात्मक है. किसी भी एक धर्म को लेकर कहा गया वचन, उस धर्म की दृष्टि से प्रमाण है; अन्य धर्मों का अपलाप करके कहा हुआ वचन अप्रमाण है, असत्य है, मिथ्या है.



सार-तत्त्व यह है कि जैन-दर्शन का मौलिक अनेकान्तवाद असत् पक्षों का समन्वय-हेल-मेल नहीं साधता. इससे तो जीवन मार्ग में अन्ध-स्थिति उत्पन्न हो जाती है. केवल सत्पक्षों और तथ्यांशों का समन्वय ही अनेकान्त है.

क्या एक ही वस्तु में विरुद्धधर्म रह सकते हैं ?—‘एक ही पदार्थ नित्य भी है, अनित्य भी है, सत् भी है, असत् भी है, एक भी है, अनेक भी है, जैन-धर्म के मेरुमणि अनेकान्तवाद का यह वज्र आघोष है. नित्यत्व, अनित्यत्व सत्त्व, असत्त्व, एकत्व, अनेकत्व आदि परस्पर-विरोधी धर्म एक ही पदार्थ में कैसे रह सकते हैं ? इस आशंका का होना सहज है. पर जरा गहराई से विचार करने पर यह तथ्य उजागर हो जाएगा कि विरुद्ध धर्मों का एकत्र पाया जाना कोई नई अद्भुत अथवा आश्चर्यकारी बात नहीं है. यह तो हमारे दैनिक अनुभव में आने वाली बात है. कौन नहीं जानता कि एक ही व्यक्ति में अपने पिता की दृष्टि से पुत्रत्व, पुत्र की अपेक्षा से पितृत्व, भ्राता की अपेक्षा से भ्रातृत्व, छात्र की अपेक्षा से अध्यापकत्व और अध्यापक की दृष्टि से छात्रत्व आदि परस्पर विरुद्ध धर्म पाये जाते हैं.

हां, विरोध की आशंका तब उचित कही जा सकती है, जब एक ही अपेक्षा से, एक पदार्थ में परस्पर विरुद्ध धर्मों का निरूपण किया जाए. पदार्थ में द्रव्य की दृष्टि से नित्यत्व, पर्याय की दृष्टि से अनित्यत्व, अपने स्वरूप की दृष्टि से सत्त्व और पर-स्वरूप की दृष्टि से असत्त्व स्वीकार किया जाता है. अतः अनेकान्त के सिद्धान्त को विरोधमूलक बतलाना अपनी अज्ञानता का परिचय देना है. अनेकान्त विरोध का तो कट्टर शत्रु है—

‘सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् !’

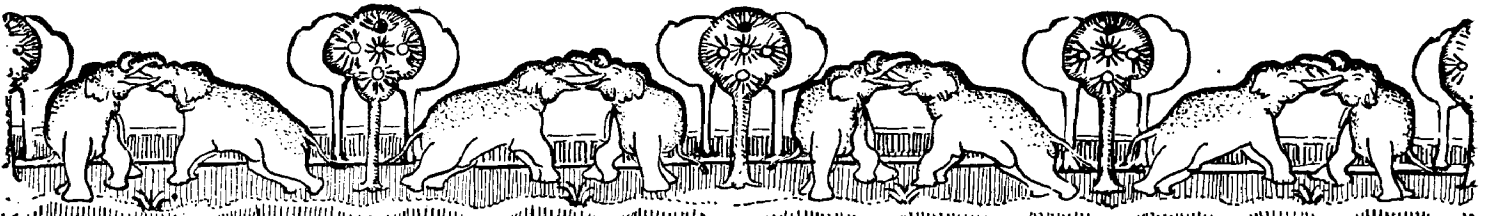
—अमृतचन्द्र, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय

—सकल नयों के विरोध को विनाश करने वाले अनेकान्त को मैं नमस्कार करता हूँ.

किसी भी पदार्थ में नित्यत्व, अनित्यत्व, सत्त्व, असत्त्व, एकत्व, अनेकत्व आदि विरुद्ध धर्मों का रहना यदि असम्भव होता, तो उस पदार्थ में उनका प्रतिभास भी नहीं होना चाहिए था. परन्तु, प्रतिभास तो सहज अबाध रूप से होता है. उदाहरण के लिए घट को ही ले लीजिए. घट अपने स्वरूप की दृष्टि से ‘सत्’ है. यदि ऐसा न होता, तो घट है, यह ज्ञान नहीं होना चाहिए था. ‘घट’ घट है, पट नहीं, ऐसी ज्ञानानुभूति भी होती है. अतः घट में पट का अभाव भी ठहरता है. और इसी अपेक्षा से घट को पट की दृष्टि से ‘असत्’ कहा जाता है. यदि वस्तु को अपने स्वरूप की अपेक्षा से ‘सत्’ और पर-स्वरूप की अपेक्षा से ‘असत्’ स्वीकार न किया जाएगा, तो किसी भी विशेष पदार्थ में प्रवृत्ति नहीं हो सकती. जिस प्रकार अपने स्वरूप की दृष्टि से ‘सत्त्व’ उस पदार्थ का धर्म है, उसी प्रकार अन्य पदार्थ की दृष्टि से ‘असत्त्व’ भी उस पदार्थ का धर्म है. यदि ऐसा न होता तो उसमें इन दोनों बातों का व्यवहार भी नहीं हो सकता था. किन्तु, ‘सत्त्व’ की तरह ‘असत्त्व’ का भी व्यवहार उसमें निरन्तर होता है. अतः पदार्थ को ‘असत्’ भी माना जाता है.

हां, पदार्थ को जिस अपेक्षा से ‘सत्’ माना जाता है, यदि उसी अपेक्षा से उसे ‘असत्’ माना जाता, तब तो असम्भव दोष को अवकाश हो सकता था. पदार्थ को जिस दृष्टिकोण से सत् स्वीकार किया गया, उस दृष्टिकोण से वह ‘सत्’ ही है और जिस दृष्टिकोण से ‘असत्’ माना गया है, उस दृष्टिकोण से ‘असत्’ ही है. यही बात ‘नित्यत्व’ और ‘अनित्यत्व’ के सम्बन्ध में भी है. जिस अपेक्षा से हम पदार्थ को नित्य मानते हैं, उस अपेक्षा से वह नित्य ही है और जिस अपेक्षा से ‘अनित्य’ स्वीकार किया जाता है, उस अपेक्षा से वह ‘अनित्य’ ही है. यदि नित्यवाली दृष्टि से ही अनित्य माना जाता, तो विरोध हो सकता था. पदार्थ को द्रव्य की दृष्टि से नित्य और पर्याय की दृष्टि से अनित्य माना जाता है. ये दोनों धर्म पदार्थ में ही हैं. इसलिए पदार्थ नित्यानित्यात्मक है.

अनेकान्तवाद की उपयोगिता:—अहिंसा का विचारात्मक पक्ष अनेकान्त है. राग-द्वेषजन्य संस्कारों के वशीभूत न होकर एक-दूसरे के दृष्टि-बिन्दु को ठीक-ठीक समझने का नाम ही तो ‘अनेकान्त’ है. इससे मनुष्य के अन्तर में तथ्य को हृदय-गम करने की वृत्ति का उदय होता है, जिससे सत्य को समझकर, उस तक पहुँचने में सुगमता होती है. जब तक मनुष्य अपने ही मन्तव्य अथवा विचार को सर्वथा ठीक समझता रहता है, अपनी ही बात को परम सत्य माना करता है, तब तक उसमें दूसरे के दृष्टिकोण को समझने की उदारता नहीं आ पाती और वह कूप-मण्डूक बना रहता है. फलतः, वह अपने को सच्चा और दूसरे को सर्वथा मिथ्यवादी समझ बैठता है.



यह जो आज परिवारों में लड़ाई-भगड़े और कलह-क्लेश हैं, सार्वजनिक-जीवन में क्रूरता तथा कलमष है, धार्मिक क्षेत्र में 'मैं-तू' का बोलबाला है, अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण में गहरी तनातनी है, वह सब अनेकान्त के दृष्टि-कोण को न अपनाते के कारण ही हैं। दुनिया का यह एक रिवाज-सा बन गया है कि वह अपनी आँखों से अपनी कल्पना तथा विचार-दृष्टि के अनुसार ही सब कुछ देखना-समझना चाहती है। समाज का प्रत्येक व्यक्ति यही चाहता है कि सब जगह मेरी ही चले, समूचा समाज मेरे इशारे पर ही नाचे। और जब यह नहीं हो पाता तो आपस में एक-दूसरे के दोष निकालते हैं, टीका-टिप्पणी के रूप में एक-दूसरे पर छींटा-कशी करते हैं, इससे 'मैं-तू' का वातावरण गरम हो जाता है और सर्वत्र अशान्ति की लहर दौड़ जाती है।

राजनीति के क्षेत्र को ही ले लीजिए। राजनीति के पचड़े में पड़कर सारा संसारवादों के चक्कर में फँसा हुआ है, अपनी अपनी बात को खींच रहा है। कोई कहता है : समाजवाद ही विश्व की समस्याओं को सुलझा सकता है। दूसरा कहता है : साम्यवाद से ही विश्व में शान्ति हो सकती है। तीसरा पुकार रहा है पूँजीवाद की छत्रछाया में ही संसार सुख की साँस ले सकता है। कोई किसी वाद से और कोई किसी वाद से विश्व-शान्ति की रट लगा रहा है। इस पारस्परिक तनाव और खींचतान से ही विश्व के राजनीतिक मंच पर ईर्ष्या, कलह, संघर्ष, भय तथा द्वन्द्व अपनी-अपनी छाती तान कर खड़े हो जाते हैं और संसार अशान्ति का अखाड़ा बन जाता है।

यही स्थिति धार्मिक क्षेत्र में है। वहाँ भी अपनी-अपनी डपली अपना-अपना राग है। प्रत्येक धर्म अपनी उच्चता, सच्चाई तथा मुक्ति की ठेकेदारी का राग अलाप रहा है। अपने-आप को सच्चा और दूसरे को झूठा बतला रहा है।

यदि ये सब विचारक, एक मंच पर बैठकर सहिष्णुता और धैर्य के साथ, एक-दूसरे की बात सुनें और अपनी ही दृष्टि को दूसरों पर बलात् थोपने का यत्न न करें, तो फिर सत्य-तथ्य इनकी आँखों के सामने न तैरने लगे! इनमें परस्पर मेल न हो जाए! 'समझौते और समन्वय का द्वार न खुल जाए! सर्वोदय की पगडंडी साफ न हो जाए! सर्वत्र शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व और सहजीवन का प्रकाश न फैल जाए!

और यही सिखाता है जैन-संस्कृति के तत्त्व-ज्ञान का मूलाधार अनेकान्तवाद। जैसे प्रकाश के आते ही अन्धकार अदृश्य हो जाता है, उसी प्रकार अनेकान्त का आलोक मन-मस्तिष्क में आते ही कलह, द्वेष, वैषम्य, कालुष्य, पारस्परिक तनाव संकीर्णवृत्ति एवं संघर्ष बात की बात में शान्त हो जाते हैं। और शान्ति तथा समन्वय का एक मधुर वातावरण बनता-बढ़ता चला जाता है। पारस्परिक विरोध और संघर्षात्मक तनाव के जहर को निकालकर अविरोध, शान्ति, सह-अस्तित्व के इस अमृतवर्षण में ही अनेकान्तवाद की सर्वोपरि उपयोगिता निहित है।

